राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक–फतहसिंह, एम.ए., डी.लिट्.

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

संशोधित मूल्य रु.... .....
राउप्राशि सं. 1 (6) क.सं. 93
दिनांक 3-12-97 के अनुसार
प्रभारी अधिकारी
रा० प्रा० वि० प्र० भरतपुर

ग्रन्थाङ्क १०७

वाचकोत्तंस-श्रीश्रीवल्लभगणिविनिर्मितम्

सङ्घपति रूपजी-वंश-प्रशस्तिः

प्रकाशक

राजस्थान-राज्य-संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक – फतहसिंह, एम.ए., डी.लिट्.

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क १०७

वाचकोत्तंस-श्रीश्रीवल्लभगणिविनिर्मिता

सङ्घपति रूपजी-वंश-प्रशस्तिः

सम्पादक

महोपाध्याय विनयसागर

साहित्य महोपाध्याय, साहित्याचार्य, दर्शनशास्त्री,

साहित्यरत्न, काव्यभूषण, शास्त्रविशारद

प्रकाशक

राजस्थान-राज्य-संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR

१९६९ ई०

प्रथमावृत्ति ७५० मूल्य १.२५

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम.ए.,डी.लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क १०७

वाचकोत्तंस-श्रीश्रीवल्लभगणिविनिर्मिता

सङ्घपति रूपजी-वंश-प्रशस्तिः

प्रकाशक

राजस्थान-राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

१९६९ ई०

वि० सं० २०२६ भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८९१

मुद्रक—हरिप्रसाद पारीक, साधना प्रेस, जोधपुर

प्रधान-सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीवल्लभोपाध्याय रचित सत्रहवीं शताब्दी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसको श्रीविनयसागर ने हमारे प्रतिष्ठान के ग्रन्थों से ढूंढ निकाला। इस ग्रन्थ में मध्ययुग के एक बहुत बड़े श्रेष्ठि-वश का परिचय दिया गया है। उस युग में इस वंश के प्रमुख सदस्य संघपति सोमजी शिवाजी थे, जिन्होंने जैन-धर्म के लिये बहुत से ऐतिहासिक महत्त्व के काम किये, अतः श्वेताम्बर जैन-समुदाय में इनका नाम आज भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। आचार्य जिनचन्द्रसूरि, जो सम्राट् अकबर के द्वारा युगप्रधान पद से अलंकृत किये गये थे, उनके ये प्रमुख भक्त थे। अतः स्वभावतः इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। इस ग्रन्थ में सोमजी शिवाजी एवं उनके पूर्वजों द्वारा निर्मित जैन-मन्दिरों और ज्ञानभण्डारों की स्थापना का उल्लेख है, उनमें से कुछ का पता नहीं चल रहा है अतः अहमदावाद-निवासियों और विशेष कर उनके वंशजों के लिये उनकी गवेषणा करना आवश्यक हो जाता है।

सम्पादक महोदय ने इसके ढूंढ़ने और सम्पादन करने में जो श्रम किया है उसके लिये वे साधुवाद के पात्र हैं।

चैत्र शुक्ला ८, वि.सं. २०२६,
जोधपुर.

—फतहसिंह

विषयानुक्रम

	पृष्ठाङ्क
भूमिका	१—८
मङ्गलाचरणम्	९
देवराजश्रेष्ठिवर्णनम्	१०–११
गोपालश्रेष्ठिवर्णनम्	११
गोपालश्रेष्ठि-राजूस्त्रीवर्णनम्	११–१२
राजाश्रेष्ठिवर्णनम्	१२
राजाश्रेष्ठिनो रत्नदेवीवर्णनम्	१२–१३
साइयाश्रेष्ठि-वर्णनम्	१३–१४
साइयाश्रेष्ठि-नाकूस्त्रीवर्णनम्	१४
योगिनाथयोरेकत्र वर्णनम्	१४–१५
सङ्घपति-योगिवर्णनम्	१५–१६
सङ्घपति-नाथ-वर्णनम्	१६–१७
सूरजीश्रेष्ठिवर्णनम्	१७
इन्द्रजीश्रेष्ठिवर्णनम्	१७
योगिनः द्वे स्त्रियौ तद्वर्णनम्	१८
सङ्घपति-सोमजीवर्णनम्	१८–१९
सङ्घपति-शिवावर्णनम्	१९–२१
योगिनः तथा तत्स्त्रीद्वयस्यच कृतविशिष्टकार्यवर्णनम्	२१–२२
सङ्घपति-सोमजी-शत्रुञ्जयतीर्थयात्रावर्णनम्	२२–२६
बन्दिमोचनम्	२६
सङ्घपतिसोमजीकृतसर्वखरतरगच्छ-सामग्री-लम्भनिका-श्रावकनिकरकरांगुलीवलयारोपणयोर्वर्णनम्	२६
श्यामलपार्श्वचैत्यनिर्माणवर्णनम्	२६
आदीश्वरजिनभूमध्यस्थितचैत्यवर्णनम्	२६–२७
चतुर्मुखश्रीशान्तिनाथचैत्यवर्णनम्	२७–२८
शास्त्रलेखनाद्यन्यकृत्यवर्णनम्	२८

भूमिका

प्रति-परिचय

यह प्रति राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित-ग्रन्थ-सङ्ग्रहालय में प्राप्त है। इस प्रति का परिचय इस प्रकार है:—

ग्रन्थाङ्क—१९२५०
नाम—संघपति रूपजी-वंश-प्रशस्तिः
कर्त्ता—श्री श्रीवल्लभोपाध्याय
आधार—कागज
लिपि—देवनागरी
साइज—२६×११ सी. एम.
पत्र—८
पंक्ति—१६
अक्षर—४३
भाषा—संस्कृत
समय—वि. सं १६७५ से १६९० का मध्यकाल
विशेष—काव्य अपूर्ण है। कर्त्ता श्रीवल्लभ द्वारा स्वयं-लिखित प्रति होने से शुद्धतम, सटिप्पण, टीका-सहित और कतिपय पाठान्तरों से अलंकृत है। अभी तक इसकी दूसरी और पूर्ण प्रति कहीं भी प्राप्त नहीं हुई है।

कर्त्ता

इस प्रशस्ति-काव्य के प्रणेता श्री श्रीवल्लभोपाध्याय (श्रीश्रीवल्लभवाचकः, पद्य ५) जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छीय परम्परा में श्री ज्ञानविमलोपाध्याय के शिष्य थे। इनका समय वि. सं. १६२० से लेकर १६९० तक का है। वाचक श्रीवल्लभ प्रतिभा-सम्पन्न कवि, सफल टीकाकार, स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त के मर्मज्ञ-वेत्ता, व्याकरण, कोष और लक्षणशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् एवं वादी

होने के साथ-साथ गच्छ-सम्प्रदाय के कदाग्रहों से मुक्त, उदारमना एवं विशुद्ध भारती के उपासक थे। इनकी वैदुष्य एवं वैशिष्टयपूर्ण अमर-कृति सहस्रदल-कमलगर्भित चित्र-काव्य 'अरजिनस्तवः' स्वोपज्ञटीकायुक्त है। अरजिनस्तव की भूमिका में मैंने कवि की गुरु-परम्परा, कवि का परिचय, कवि द्वारा निर्मित साहित्य एवं कवि की विशालहृदयता आदि पर विस्तार से विचार किया है।

श्रीवल्लभोपाध्याय द्वारा निर्मित निम्नांकित साहित्य अभी तक प्राप्त हुआ है—

१. विजयदेवमाहात्म्य-महाकाव्य[१], रचना-समय अनुमानतः १६८७

२. अरजिनस्तव (सहस्रदलकमलगर्भितचित्रकाव्य) स्वोपज्ञटीका-सहित[२] रचना-समय १६५५ और १६७० का मध्य

३. विद्वत्प्रबोध[३] रचना-समय संभवत. १६५५ और १६६० के पश्चात्, रचना-स्थान बलभद्रपुर (बालोतरा)

४. संघपति रूपजी-वंश-प्रशस्ति-काव्य

५. चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल[४]

६. उपकेशशब्द-व्युत्पत्ति र० सं० १६५५ विक्रमनगर (बीकानेर)

७. मातृकाश्लोकमाला[५]

८. शिलोञ्छनाममाला-टीका[६] र० सं० १६५४ नागपुर (नागोर)

९. शेषसंग्रह-'दीपिका'-टीका[७] र० स० १६५४ बीकानेर

१०. अभिधानचिन्तामणिनाममाला-'सारोद्धार'-टीका[८] र० सं० १६६७ जोधपुर

---

१. जैन साहित्य संशोधक समिति द्वारा प्रकाशित।

२. मेरे द्वारा सम्पादित एवं सुमति सदन कोटा से प्रकाशित।

३. श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार सूरत से 'महावीर-स्तोत्र' में तथा राजस्थान प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर से 'एकाक्षरनामकोष-संग्रह' में प्रकाशित।

४. प्रेसकॉपी मेरे संग्रह में है।

५. मुनि पुण्यविजयजी संग्रह अमदाबाद भाग २, ग्रंथांक ४५७२ पर प्राप्त है।

६. ७. बीकानेर बृहद्ज्ञान भण्डार में प्राप्त है।

८. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में ग्रन्थांक ४३०५, ४३२३, १४१३६ और और १७१६७ पर चार प्रतियाँ प्राप्त हैं।

११. निघण्टुशेषनाममाला टीका[1]

१२. सिद्धहेमशब्दानुशासन टीका[2]

१३. दुर्गपदप्रबोधवृत्ति[3] र. सं. १६६१ जोधपुर

१४. सारस्वतप्रयोगनिर्णय[4]

१५. 'केशाः' पदव्याख्या।[5]

१६. चतुर्दशगुणस्थान-स्वाध्याय

प्रस्तुत प्रशस्ति-काव्य के अतिरिक्त श्रीवल्लभ वाचक के स्वयं के हस्तलेखों की दो प्रतियाँ मेरे अवलोकन में और आई हैं जिनमें से एक तो बाणभट्टकृत 'चण्डीशतक' की महाराणा कुम्भकर्णप्रणीत टीका की सं० १६५५ नागोर में लिखित प्रति जो राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में १७३७६ ग्रन्थांक पर प्राप्त है और दूसरी प्रति श्रीसुन्दररचित 'चतुर्विंशतिजिनस्तुतिः' की प्रति मेरे निजी संग्रह में प्राप्त है।

काव्यनाम

प्रस्तुत काव्य अपूर्ण होने से इसका कवि ने क्या नाम रखा है, निर्णय नहीं कर सकते। काव्य के प्रारंभ में कवि 'श्रीसंघाधिपरूपजीर्विजयतां' (पद्य ३) तथा 'भुवि श्रावकाधीश्वरो रूपजोः सः' (पद्य ४) का उल्लेख कर, पद्य पांचवें में रूपजी के पूर्वजों का वर्णन करने का संकेत करता है। इससे स्पष्ट है कि कवि संघपति रूपजी की प्रशंसा में यह प्रशस्ति-काव्य लिखना चाहता है, परन्तु काव्य के प्राप्तांश में केवल रूपजी के पिता एवं चाचा संघपति सोमजी और शिवाजी के कतिपय सुकृत कार्यों का ही वर्णन प्राप्त है। रूपजी का जन्म और विशिष्ट कृत्यों का उल्लेख भी इसमें नहीं आ पाया है। ऐसी अवस्था में मैंने इसका 'संघपति रूपजी-वंश-प्रशस्तिनाम रखना ही समुचित समझा है।

---

१. अभिधानचिन्तामणिनाममाला 'सारोद्धार' टीका में उल्लेखमात्र प्राप्त है।

२. विजयधर्मलक्ष्मीज्ञानमन्दिर, आगरा में प्राप्त है।

३. श्री अमीसोमजैनग्रंथमाला, बम्बई से प्रकाशित।

४. भावहर्षी खरतरगच्छ ज्ञान भंडार, बालोतरा में कुछ वर्षों पूर्व यह प्रति प्राप्त थी किन्तु दुःख है कि वह ज्ञान-भण्डार बिक चुका है।

५. महिमा भक्ति जैन ज्ञान भंडार, बीकानेर ग्रं. १८९० पर प्राप्त है।

रचना-समय

संघपति सोमजी ने सिद्धाचलतीर्थ पर खरतरवसही (चौमुखजी की टूंक) का निर्माणकार्य प्रारंभ करवाया था। मीराते अहमदी के अनुसार इस मंदिर के निर्माणकार्य में ५८ लाख रुपये खर्च हुए थे। कहा जाता है कि इस कार्य में ८४०००) रुपयों की तो केवल रस्सी-डोरियां ही लगी थीं। किन्तु दुर्भाग्यवश मंदिर की प्रतिष्ठा कराने के पूर्व ही संघपति सोमजी का स्वर्गवास हो गया। ऐसी अवस्था में सोमजी के पुत्र संघपति रूपजी ने सं० १६७५ में खरतरगण-नायक श्रीजिनराजसूरि के कर-कमलों से इस खरतरवसही की प्रतिष्ठा का कार्य बड़े महोत्सव के साथ सम्पन्न करवाया। दूसरी बात, खरतरगच्छीय पट्टावलियों के अनुसार, इस प्रतिष्ठा-महोत्सव के अतिरिक्त संघपति रूपजी के अन्य विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण कार्यों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। अतः इसकी रचना का समय प्रतिष्ठा-महोत्सव का समय संवत् १६७५ के पश्चात् का ही माना जा सकता है।

ग्रन्थसार

इस काव्य के अनुसार संघपति रूपजी का वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है :-

प्राग्वाटवंशीय श्रेष्ठिदेवराज (पत्नी—रूडी)
|
श्रे. गोपाल (पत्नी—राजू)
|
श्रे. राजा (पत्नी—रत्नदेवी)
|
श्रे. साइया (पत्नी—नाकू)
|
श्रे. योधी (पत्नी २, जसमादवी और नानी काकी) — श्रे. नाथ (पत्नी—नारंगदेवी)

श्रे. योधी के पुत्र:
- श्रे. सोमजी (माता जसमादे)
  - श्रे. रूपजी
- श्रे. शिवा (माता जसमादे)

श्रे. नाथ
|
श्रे. सूरजी (पत्नी—सुषमादेवी)
|
श्रे. इन्द्रजी

काव्य में वंशावली के अतिरिक्त कवि ने जिन-जिन विशिष्ट बातों एवं कार्यों का इसमें उल्लेख किया है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं।—

१. प्राग्वाटवंशीय श्रेष्ठिदेवराज अहमदाबाद का निवासी था। व्यापारियों में मुख्य था। इसने सं० १४८७ माघ शुक्ला ५ को श्री मुनिसुव्रतस्वामी के बिम्ब की प्रतिष्ठा खरतरगणाधीश श्री जिनभद्रसूरि के करकमलों से करवाई थी।

२. संघपति योगी ने स्वधर्मी बन्धुओं को हेममुद्रा (मोहर) की लावणी (प्रभावना) की थी और वह सदा याचकों को अभीष्ट दान देता था।

३. संघपति योगी की प्रथम पत्नी जसमादे ने अहमदाबाद के तलीयापाडे में सुमतिनाथ का नवीन मंदिर का निर्माण करवा कर प्रतिष्ठा करवाई थी।

४. संघपति योगी की दूसरी पत्नी नानी काकी ने एकादश अंगादि समस्त शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ करवाकर स्वयं के नाम से ज्ञान भण्डार स्थापित किया था।

५. संघपति सोमजी ने वि० सं० १६४४ में खरतरगणनायक युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि से शत्रुंजयतीर्थ की यात्रार्थ संघ निकालने की स्वाभिलाषा प्रकट की। आचार्यश्री की स्वीकृति प्राप्त होने पर सं० सोमजी ने सब जगह आमन्त्रण-पत्रिकायें भेजीं। आमन्त्रण प्राप्त कर अनेकों स्थानों के हजारों यात्री और अनेक संघ अमदाबाद आये और शुभ मूहूर्त्त में संघपति सोमजी की अध्यक्षता में यह तीर्थयात्री-संघ अमदाबाद से चल पड़ा। संघ क्रमशः शत्रुजयतीर्थ पर पहुंचा और वहाँ बड़ी भक्ति से तीर्थ की अर्चना-पूजा की। संघनायक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि ने सोमजी को संघाधिपति-पद प्रदान किया। यात्रा कर संघ पुनः अमदाबाद आया।

६. सं० सोमजी ने सं० १६४८ में हलारा स्थान के बंदियों को द्रव्य देकर कंदखाने से छुड़वाया।

७. सं० सोमजी ने खरतरगच्छानुयायी समस्त स्वधर्मी भाइयों को सोने की अंगूठी की लंभनिका (प्रभावना) की।

८. सं० सोमजी ने अहमदाबाद के सामलपाडे में सांवला पार्श्वनाथ चैत्य का नवीन निर्माण करवाया।

९. सं० सोमजी ने सूत्रधार धना की पोल में नीचे भूमितल पर आदिनाथ भगवान् का और ऊपर चतुर्मुख (चौमुखा) शान्तिनाथ का विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया और सं० १६५३ में सम्राट् अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि के करकमलों से चौमुखा शांतिनाथ-मन्दिर की प्रतिष्ठा बड़े महोत्सव से करवाई।

१०. इस प्रकार संघपति सोमजी ने आठ नये मंदिरों का निर्माण करवाया और सिद्धांत, टीका आदि सर्वशास्त्रों की प्रतिलिपियां करवा कर अहमदाबाद में ही ज्ञानभंडार स्थापित किया एवं खरतरगच्छ की सम्पूर्ण रूप से सर्वत्र उन्नति की ।

सं० सोमजी के सम्बन्ध में अन्य उल्लेख

संघपति सोमजी के संबंध में अन्य ग्रंथों में जो उल्लेखनीय विशेष बातें प्राप्त होती हैं वे निम्नलिखित हैं :—

१. शीलविजयकृत तीर्थमाला के अनुसार संघपति सोमजी शिवा न केवल प्राग्वाटवंशीय ही हैं अपितु विश्वप्रसिद्ध नेमिनाथमंदिर, आबू के निर्माता महामात्य वस्तुपाल तेजपाल के वंशज हैं:—

वस्तुपाल मंत्रीश्वर-वंश, शिवा सोमजी कुल-अवतंश ।
शत्रुंजय उपरि चौमुख कियउ, मानव-भव लाहो तिण लियउ ।।

२. क्षमाकल्याणोपाध्यायकृत पट्टावली के अनुसार सोम और शिवा प्रारंभ में गरीब थे और चिभड़े का व्यापार करते थे । आचार्य जिनचन्द्रसूरि के चमत्कार के प्रभाव से ये धनाढ्य हो गये ।

३. वाचक रत्ननिधानकृत चैत्यपरिपाटी-स्तवन के अनुसार सं० सोमजी का संघ सं० १६४४ चैत्र कृष्णा ४ को शत्रुञ्जय पर पहुचा था:—

संवत सोलह सइ चिम्मालइ, बरसि सवि सुखकार ।
चैत वदी चउथी दिनइ, बुधवल्लभ बुधवार ।।१०।।

संघपति योगी सोमजी, मन धरि हरख तुरंग ।
गच्छपति श्रीजिनचन्द्रनइं, यात्रा करावी रंग ।।११।।

सुविहित खरतर संघनइ, श्री आदिदेव प्रसन्न ।
वाचनाचारिज इम भणइ, रत्ननिधान वचन्न ।।१२।।

४. महोपाध्याय समयसुन्दर-कृत कल्पसूत्रटीका 'कल्पलता' (र०सं० १६८५) की प्रशस्ति में लिखा है कि जगद्विश्रुत सोमजी और शिवा ने राणकपुर, गिरिनार, आबू, गोडी पार्श्वनाथ और शत्रुञ्जय के बड़े-बड़े विशाल संघ निकालकर तीर्थयात्रायें कीं और प्रतिनगर में स्वगच्छानुयायियों को २ रुक्म (सिक्का) की प्रभावना की:—

यद्द्वारे पुनरत्र सोमजि - शिवा-श्राद्धौ जगद्विश्रुतौ,
याभ्यां राणपुरश्च रैवतगिरिः श्रीअर्बुदस्य स्फुटम्।
गौडी श्रीविमलाचलस्य च महान् संघो नयः कारितो,
गच्छे लम्भनिका कृता प्रतिपुरः रुक्मा द्विमेकं पुनः॥

५. गुणविनयोपाध्याय ने ऋषिदत्ता चौपई (र०सं० १६६३) में लिखा है कि सं० शिवा सामजी ने खंभात में भी बहुत द्रव्य खर्च करके अनेकों जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा करवाई:—

श्रीखंभायत थंभण पास, धरण पउम परतिख जसु पास ॥६३॥
श्री खरतरगच्छ गगननभोमणि, अभयदेवसूरि प्रगटित सुरमणि।
धन खरची बहु बिंब भराविय, साह शिवा सोमजी कराविय ॥६४॥
अचरजकारी पूतली जसु ऊपरि, शरणाइ वर भेरि विविह परि।
पास भगति वस जिहा बजावइ, गुरु परसाद रह्या शुभ भावइ ॥६५॥

६. श्री अगरचंद भंवरलाल नाहटा-लिखित युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि पृ० २४२-२४३ में लिखा है कि :—

(क) अहमदाबाद की दस्सा पोरवाड़-जाति में आपने कई अच्छे रीति-रिवाज प्रचलित किये थे। अब भी विवाह-पत्र के लेख में 'शिवा सोमजी की रीति प्रमाणे' लेन-देन की मर्यादा लिखी जाती है। आपके निवास-स्थान धना सुतार की पोल में, जिनालय के वार्षिक दिवस और अन्य प्रसंगों में जब कभी जिमनवार होता है, तब निमंत्रण-पत्र भी 'शिवा सोमजी' के नाम से दिया जाता है।

(ख) धना सुतार की पोल वर्तमान समय में शिवा सोमजी की पोल के नाम से भी प्रसिद्ध है।

(ग) सं० सोमजी-कारित झवेरीवाड़ा के चौमुखजी की पोल में शान्तिनाथ का चौमुख मन्दिर और हाजा पटेल की पोल के कोने में श्री शान्तिनाथजी का मंदिर भी वर्तमान में प्राप्त है।

(घ) सेठ सोमजी शिवाजी का स्वधर्मी-वात्सल्य बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय था। एक बार किसी अज्ञात अपरिचित स्वधर्मी-बन्धु ने विपत्ति के समय आपके ऊपर साठ हजार रुपये की हुंडी कर दी। जब वह हुंडी भुगतान के निमित्त आपके पास आई, तब इनके मुनीम, कर्मचारियों को सारा खाता ढूंढ

लेने पर भी हुंडी करने वाले का कहीं नाम तक न मिला। विचक्षण सोमजी को उस हुंडो के गौरपूर्वक देखने मात्र से उस पर अश्रुबिन्दु का दाग देखकर रहस्य समझ में आ गया और अपने किसी स्वधर्मीबन्धु के विपत्ति का अनुभव कर निजी खाते में खरच लिखवा कर सिकार दी। कुछ दिन के पश्चात् वह अज्ञात स्वधर्मी भाई वहाँ आया और आग्रहपूर्वक हुंडी के रुपये जमा करने को प्रार्थना की। किन्तु सोमजी ने, 'हमारा आपके (नाम से) पास एक पैसा भी लेना नहीं है' यह कहते हुए रुपया लेना अस्वीकार कर दिया। आखिर संघ की सम्मति से श्री शान्तिनाथ प्रभु का जिनालय-निर्माण कराने में वे समस्त रुपये व्यय कर दिये गए।

(च) सं० सोमजी की वंश-परंपरा के व्यक्ति अब भी अहमदाबाद में निवास करते हैं।

काव्य की स्वोपज्ञ-टीका

कवि ने इस प्रशस्ति-काव्य के ८-१२, १५-१७, २०, २४, २५, ३१-३८, ४१, ४३, ४४, ५४, ५६, ६२, ६३, ७८ पद्यों में आगत दुर्बोध एवं क्लिष्ट शब्दों की व्याख्या की है और सारे पद्यों में क्लिष्ट शब्दों के लिये टिप्पणी का प्रयोग किया है। वस्तुतः यह टीका न होकर दुर्गम-शब्दों का विवेचन करने वाली टिप्पणिका ही है।

अन्त में विद्वानों एवं शोधकों से निवेदन है कि इस प्रशस्ति-काव्य की कोई पूर्ण प्रति प्राप्त हो तो सूचना देने का कष्ट करें।

वाचकोत्तंस-श्रीश्रीवल्लभगणिविनिर्मितम्

संघपति-रूपजी-वंश-प्रशस्तिः

ऐं नमः ।

श्रेयः श्रीः श्रयते यदीयविशदाऽऽनन्दिप्रसादात्सदा,
कार्यं कर्त्तुमना जनाद्भुतमविः[1] प्रह्वीभवत्येव च ।
स श्रीशान्तिजिनोऽद्भुतां वितनुतां वः सम्पदं शं पदं,
विद्वांसो भविपुङ्गवा भगवतामायुष्मतां श्रीमताम् ॥१॥

भवति नृणां कुशलं चिरकालं,
यदुदितचञ्चदनुग्रहतोऽत्र ।
वितरतु सत्प्रतिभां श्रुतदेवी,
रणरणकप्रणता नृगणैः सा ॥२॥

भास्वद्भासुरपोरवाडनिविडप्रोद्दण्डपूर्वाचल-
प्रद्योतद्युमणिर्नृमस्तकशिरश्चूडामणिर्भूमणिः ।
श्रीसङ्घाधिपरूपजीर्विजयतां ज्यायान् वरीयांश्चिरं,
जाग्रच्छ्रीजिनशासनोन्नतिकृतां नृणां सदा ग्रामणीः ॥३॥

गुणौघैः सदाऽमानदानादिभिर्यं,
त्रिलोकास्त्रिलोकीशतुल्यं[2] ब्रुवन्ति ।
चिरं नन्दतान्नन्दयन्तो जनानां,
भुवि श्रावकाधीश्वरो रूपजीः सः ॥४॥

पूर्वं पूर्वजवर्णनञ्च विहिताऽनन्ताऽद्भुतश्रेयसो,
व्याख्यां लक्षविचक्षणैः समुदितां विश्वोदितां दीप्तिवत् ।
जैनश्रावकनायकत्वमनकं तस्या[3]-ऽन्वहं बिभ्रतः,
श्रीश्रीवल्लभवाचकः कविगुरून्नत्वा स्तवीत्यादरात् ॥५॥

---

१. मनाग्मतिकविः । २. त्रयो लोकाः त्रिलोकाः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तस्या ईशः विष्णुः । ३, रूपजीकस्य ।

तद्यथा—

अहम्मदावादपुरं पुराणं, वसुन्धराधारनराभिरामम् ।
चकास्ति शास्तीव तदुत्तमान्यद् द्रंगाणि सर्वस्वसमृद्धिभिर्यत् ॥६॥

तत्रोत्तमः सर्वसमृद्धपुंसां, श्रीदेवराजो व्यवहारिराजः ।
रराज साम्राज्यविराजमानः, स्वर्देवराजो मघवेव साक्षात् ॥७॥

लोकोत्तमं सर्वगुणाभिरामं, सौभाग्यवन्तं च समृद्धिमन्तम् ।
श्रीदेवराजं जितदेवराजं, लोका हि लोके लुलुके नृलोकः ॥८॥

व्या०—हि निश्चितं नृलोको मनुष्यपरीक्षको लोकः–जनो लोके–जगति श्रीदेवराजं–श्रीदेवराजश्रेष्ठिनं जितदेवराजं–पराजितेन्द्रं लुलुके–ददर्श ॥८॥

सप्ताऽष्टवेदैकमिताब्दमाघ-वलक्षपक्षोत्तमपञ्चमाऽह्ने ।
स्वकारितश्रीमुनिसुव्रतार्हद्बिम्बं कृतानन्तसमीहितार्थम् ॥९॥

प्रव्यय्य स द्रव्यचयं महीयो, महोत्सवौघेन जनाऽनघेन ।
हर्षात् प्रतिष्ठापयति स्म हस्ताज्जाग्रत्प्रभावाज्जिनभद्रसूरेः ॥१०॥

युग्मम्

व्या०—सप्ताष्टवेदैकमितो १४८७ यो अब्दः–वर्षस्तस्य यो माघः–माघमासस्तस्य यो वलक्षपक्षः–श्वेतपक्षस्तस्य यत् पञ्चमाहः–पञ्चमं दिनं पञ्चमीतिथिरित्यर्थस्तस्मिन् । पञ्चमाह्ने इत्यत्र पञ्चमं च तत् अहश्च पञ्चमाहः 'अह्नः' इति सूत्रेण तत्पुरुषाऽट् समासान्तः ॥

शुशोड शौडीरसुदानशौण्डो, योषिज्जनो नो मनसा मनोज्ञः ।
यस्याः सदौदार्यगभीरतादीन्, गुणानगण्यानधिकान्निरीक्ष्य ॥११॥

युयौड रूडीत्यभिधा प्रिया सा, तस्य प्रचण्डस्य जनाजडस्य ।
रूडीति भाषा तत एव लोके, प्रावर्त्तते वेत्ति जना उदाहुः ॥१२॥

युग्मम्

व्या०—तस्य देवराजस्य रूडीत्यभिधा प्रिया–प्रेयसी युयौड–सम्बबन्ध अमिलदित्यर्थः । 'यौडृ सम्बन्धे, सम्बन्धः श्लेषः' इति धातुपारायणम् । सा का ? यस्याः सदौदार्यगभीरतादीन् गुणान् निरीक्ष्य योषिज्जनः मनसा नो शुशोड–न जगर्वे-

त्यर्थः। किम्भूतः योषिज्जनः? शौडीरसुदानशौण्डः-पु० यो० मनोज्ञः। कथं०? गुणान् अगण्यान्-अधिकान्। अत्र कविराशंक्य एवमाह-जना इति उदाहुः। इतीति किम्? तत एव रूडीनाम्न्या योषित एव, लोके रूडीति भाषा प्रवर्त्तते एव। यदीयमीदृशी नाऽभविष्यत्तर्हि मनोहरपर्याया त्रिलिङ्गा रूडीति भाषा लोके कथं अभविष्यत्? इति। कथम्भूतस्य? तस्य देवराजस्य प्रचण्डस्य--प्रतापिनः 'प्रचण्डो दुर्वहे श्वेतकरवीरे प्रतापिनि' इति श्रीधरः। पुनः कथम्भूतस्य? जनाजडस्य लोकेषु पण्डितस्य। इति काव्यद्वयार्थः ॥११-१२॥

[इति] देवराजश्रेष्ठिवर्णनम्।

तदङ्गजन्माऽर्जितपद्मसद्मा, गोपालनामा स बभूव भूमौ[1]।
गोः पालकत्वादिव यं कवीन्द्राः, गोपाल[2]-जेतारमुदारमाहुः ॥१३॥

चित्तावनौ सर्वजनस्य शश्वत्, प्रारंस्त शस्तस्वगुणैरनेकैः।
परोपकारैः प्रचुरप्रकारैः, श्रेष्ठी[1] व्यभासिष्ट स यस्य नाम ॥१४॥[3]

आविश्चकाराऽत्र हि विश्वरेताः, प्रियंवदं सर्वजनप्रियं च।
विपश्चितः प्रोचुरिति क्षितौ यं, पपौ जिनाज्ञां स चिरं च लोकान् ॥१५॥

व्या०—स गोपालः श्रेष्ठी चिरं जिनाज्ञां च-पुनः लोकान् पपौ-रक्ष। सः कः? यं हि-निश्चितं, अत्र क्षितौ-धरित्र्यां विश्वरेताः-ब्रह्मा प्रियंवदं च-पुनः सर्वजनप्रियमाविश्चकार इति विपश्चितः प्रोचुः ॥१५॥

[इति] गोपालश्रेष्ठि वर्णनम्।

आर्येव वर्या खलु शङ्करस्य, भार्याऽकदर्या वरयोषिदर्या।
रराज राजूरितदुष्कृताजूस्तस्योदितानन्तविभूतिभाजः ॥१६॥

व्या०—तस्य गोपालस्य श्रेष्ठिनः राजूः-राजूनाम्नी भार्या रराज। कस्य केव? खलु-निश्चितं शङ्करस्य-शम्भोः आर्या इव-पार्वतीव। 'आर्योमाछन्दसोः' इति हैमानेकार्थः, दीर्घस्वरादिरयम्। कथम्भूता पार्वती राजूश्च? वर्या अकदर्या

---

१. भूपः। २. गोपालः।

३. चित्ताऽवनौ सर्वजनस्य शश्वत्प्रारंस्त शस्तस्वगुणैरनेकैः।
परोपकारैः प्रचुरप्रकारैः, श्रेष्ठी व्यभासिष्ट स यस्य नाम ॥१५॥

अकृपणा वाञ्छितार्थदायिकात्वात् वरयोषिदर्या । अत्र अर्याशब्दः स्वामिनी-पर्याय आद्यस्वरादिः । 'स्यादर्यः स्वामिवैश्ययोः' इत्युक्तत्वात् । इतदुष्कृताजूः दुष्कृतं च आजूश्च नरके हठात् क्षेप इति द्वन्द्वे दुष्कृताज्वौ, इते-गते दुष्कृताज्वौ यस्याः इतदुष्कृताजूः । यद्वा, इता-गता दुष्कृतमेवाऽऽजूर्यस्याः सा तथा । कथम्भूतस्य तस्य गोपालस्य ? उदितानन्तविभूतिभाजः उदयप्राप्तानन्तसम्पद्भजनशीलस्य । कथम्भूतस्य शङ्करस्य ? उदितानन्तविभूतिभाजः-लघिमावशितेशित्वं प्राकाम्यमित्याद्यष्टधैश्वर्यभजनशीलस्य ।।१४।।

[इति] गोपालश्रेष्ठिराजूस्त्रीवर्णनम् ।

काले व्यतीते कियति प्रशस्तं, पुत्रं फलं साऽऽम्रलतेव लेभे ।
राजाभिधेयं स्वगुणैरमेयं, समस्तलोक - स्पृहणीयरूपम् ।।१७।।

व्या०— सा-राजूः गोपालश्रेष्ठिपत्नी राजाभिधेयं पुत्रं लेभे-अलभत । क्व सति ? कियति काले व्यतीते सति-परिणयनानन्तरं कियति काले व्यतिक्रान्ते सतीत्यर्थः । किम् ? केव ? फलं आम्रलतेव-आम्रलक्षणं फलं लभते तथा राजूरपि राजाभिधेयं पुत्रं लेभे इत्यर्थः । कथम्भूतं पुत्रम् ? प्रशस्तं-रोगादिभी रहितत्वात् सुन्दरम् । फलपक्षे तु, सुवातादिना पक्ष्याद्यभक्षणेन च अविनष्टत्वात् सुन्दरम् । पुनः कथम्भूतं पुत्रम् ? स्वगुणैः-स्वकीयौदार्यगाम्भीर्यसौन्दर्यादिगुणैः अमेयं-अपरिगणनीयं, एतस्य इयन्तो गुणा इति गुणगणनाऽशक्यत्वादित्यर्थः । आम्रफलपक्षेऽपि स्वगुणैः-कफहरग्राह्याादिभिर्गुणैरमेय तथैवार्थः । 'आम्रः कफहरो ग्राही व्रण्यो वातप्रमेहहृत्' इति धन्वन्तरिः । आम्रगुणानाह । पुनः कथम्भूतं पुत्रम् ? समस्तलोकस्पृहणीयरूपं, सुगमं । फलपक्षेप्ययमेवार्थः, परिपक्वगौरवर्णोपेतत्वेन जनानां वाञ्छनीयत्वात् । अत्र फलमिति भिन्नलिङ्गोपमा ।।१७।।

यदीयराजेति सुनामधेये, जजल्पुरित्थं विबुधा विकल्प्य ।
किं पार्थिवः किञ्च निशाकरोऽयं, किं नायकः किं त्रिदिवाधिनाथः ।।१८।।
किं क्षत्रियस्तत्तदनेकदीव्यद्-गुणैर्नराणां कुशलाय शक्तैः ।
लोकप्रकाशैर्विहितारिनाशो, रराज राजा स चिरं धरायाम् ।।१६।।

युग्मम्

[इति] राजाश्रेष्ठिवर्णनम् ।

तस्याऽभवत् प्रेमरसस्य पात्रं, रत्नादिदेवी प्रवरा हि पत्नी ।
हर्षप्रदा मेघघटेव नव्या, शश्वन्मयूरस्य जनाभिरामा ।।२०।।

व्या०—तस्य-राजाभिधेयस्य प्रवरा रत्नादिदेवी पत्नी अभवत्-आसीत्। कथम्भूता ? प्रेमरसस्य पात्र—भाजनम्। पुनः कथम्भूता ? हर्षप्रदा। कस्य ? केव ? मयूरस्य मेघघटेव, यथा मयूरस्य मेघघटा शश्वत् हर्षविधात्री तथा राजाभिधस्य श्रेष्ठिनः हर्षकर्त्री इत्यर्थः। कथम्भूता ? नव्या जनाभिरामा ॥२०॥

[इति] राजाश्रेष्ठिनो रत्नदेवीवर्णनम्।

प्रख्यातसार्वत्रिकसत्समाख्यः, पुत्रः स तस्याऽजनि साइयाख्यः।
यः प्राड्विवाकोऽग्र्यशिरोवतंसस्ततंस पुंसां स्वगुणैर्नृहंसः ॥२१॥

समस्तलोकं न तृणाय[1] साक्षाद्, यो मन्यतेऽनन्यनृनव्यपुण्यैः।
स्वीयैरमेयैः कविवर्णनीयैर्यशश्चयैश्चाऽत्र[2] स साइयाख्यः ॥२२॥

दानान्यनेकानि लसत्तपांसि, श्राद्धव्रतानामवनं च शश्वत्।
समाचचार व्यवहारसारः, स[3] तत्त्वभुद्भूपतिसेवितांह्रिः ॥२३॥

सुदानशौण्डा अनु साइयाख्यं, वसुन्धरायां व्यवहारिमुख्यम्।
धर्मैकनिष्ठा नृपतिप्रतिष्ठा, गुणैर्गरिष्ठा विबभुर्महिष्ठाः ॥२४॥

व्या०—वसुन्धरायां व्यवहारिमुख्यं साइयाख्यं अनु सुदानशौण्डाः विबभुः। कोऽर्थः ? साइयानाम्नः श्रेष्ठिनो हीना रेजुरित्यर्थः। एवं धर्मैकनिष्ठाः, नृपप्रतिष्ठाः, गुणैर्गरिष्ठाः, महिष्ठाः साइयाख्य अनु विबभुः-हीना रेजुरित्यर्थः। उत्कृष्टेऽनूपेन इत्युत्कृष्टेऽर्थे, अनु इति अव्यययोगे। साइयाख्यमित्यत्र द्वितीया ॥२४॥

यस्योदितांशोरिव सर्वकालं, महो ममंहे समहो महीयान्।
न मंहयामास च सन्महीनान्, निशाकरोग्रग्रहतारकादीन् ॥२५॥

व्या०—यस्य-साइयाख्यस्य महः-तेजः सर्वकालं ममंहे-ववृधे, च-पुनः सन्महीनान्-उत्तममहीपालान् न मंहयामास-न दीपयामास, साइयाख्यश्रेष्ठिनः तेजसः राज्ञां तेजो न किञ्चिदित्यर्थः। 'महुङ् वृद्धौ' भ्वादिरात्मनेपदी, 'महुण् भासार्थः' चुरादिः परस्मैपदी। यस्य कस्येव ? उदितांशोरिव-उदयं प्राप्तस्य सूर्यस्य इव, यथा सूर्यस्य तेजः सर्वकालं वर्द्धते, च-पुनः निशाकरोग्रग्रहतारकादीन् न दीपयति तथा साइयाख्यश्रेष्ठिनस्तेजोऽपि। अत्र साइयाख्यः श्रेष्ठी उपमेयः, उदितांशुरुपमानं'

---

१. तृणादपि निकृष्टं मन्यते इत्यर्थः। २. दिदीपे। ३. साइयाश्रेष्ठी।

श्रेष्ठिनो महः उपमेयः, सूर्यस्य महः उपमानम् । श्रेष्ठिनो महस्य यथा सन्महीना निराकरणीयास्तथा सूर्यस्य तेजसो निशाकरोग्रग्रहतारकादयो निराकरणीयाः । कथम्भूतो महः ? समहः–सोत्सवः । अत्र महशब्दो अकारान्तो देववत् । 'महावुत्सव-तेजसी' इत्यनेकार्थः । पुनः क० ? महीयान् ॥२५॥

[इति] साइयाश्रेष्ठिवर्णनम् ।

नाकू इति ख्यातसुनामधेया, पत्नी तदीया शुभभागधेया ।
बभूव सा भूवलये गुणाग्रा, यद्रूपतोऽन्या महिला हि विग्राः ॥२६॥

[इति] साइयाश्रेष्ठिनाकूस्त्रीवर्णनम् ।

सांसारिकानेकनृभोग्यभोगान्, काम्यान्निकामं खलु भुञ्जमाना ।
प्रोत्तुङ्गकार्यं जनमाननीयं, याऽसूत योग्याह्वयमङ्गजं सा[1] ॥२७॥
ततो व्यतीते कियति क्षणे सा[2], पुनर्द्वितीयं तनयं सुसाव ।
नाथाभिधानं जनपूजनीयं, चन्द्रं द्वितीयेव तिथिः कलाढ्यम् ॥२८॥
नवैर्नवैश्चारुतरैः सुसिद्धै–र्मनोरथैः पुण्यत एव पित्रोः ।
यथाक्रमं तौ ववृधात उत्का-वधीयतुश्च व्यवसायविद्याः ॥२९॥
कन्ये उपायंस्त ततः क्रमेण, भ्रातृद्वयं द्रव्यचयं व्ययित्वा ।
महोत्सवांश्च प्रचुरान् विरच्य, प्रायो हि धर्मो गृहिणां विवाहः ॥३०॥

[इति] योगिनाथयोरेकत्र वर्णनम् ।

लक्ष्मीः पयोधिं परिहाय पूर्वं, कालं कियन्तं त्रिदिवे निवस्य ।
सुखान्यलब्ध्वा च जगद्भ्रमन्ती, ययोः शरण्यं शरणं विवेश ॥३१॥
तत्र स्थितैधिष्ट च शिष्टरूपाऽस्पर्द्धिष्ट नो दुष्टतराऽपि बुद्धेः ।
सापत्न्यतोऽपीति विचित्रमेतत्, रराजतुः प्रीतसहोदरौ तौ ॥३२॥

युग्मम्

व्या०—तौ-योगिनाथाख्यौ प्रीतसहोदरौ–प्रीतिमद्भ्रातरौ रराजतुः–दिदीपाते । तौ कौ ? ययोः शरण्यं–शरणयोग्यं शरणं–गृहं लक्ष्मीः विवेश–प्राविशत् । कथम्भूता

---

१. नाकूः । २. नाकूः ।

सती ? जगद्भ्रमन्ती सती। किं कृत्वा ? पूर्वं पयोधिं परिहाय कियन्तं कालं त्रिदिवे-स्वर्गे निवस्य-उषित्वा, च-पुनः सुखानि अलब्ध्वा-स्वर्गे सौख्यानि अलब्ध्वेत्यर्थः। च-पुनः तत्र योगिनाथयोर्गृहे स्थिता ऐधिष्ट-प्रवर्द्धत। कथम्भूता ? शिष्टरूपा। काकाक्षिगोलकन्यायेन चकारस्य पुनर्ग्रहणात् च-पुनः सापत्न्यतोऽपि-सपत्नीभावादपि बुद्धेर्नो अस्पर्द्धिष्ट-धर्मबुद्धया सह स्पर्द्धां न अकरोत्, इत्येतत् विचित्र-विशिष्टमाश्चर्यम्। कथम्भूता ? दुष्टतरा। अपीति सम्भावनायाम् ॥३१-३२॥

शास्त्रेष्विति श्रूयत एतदिष्टं, पुनाति गङ्गाह्लदिनी जनौघान्।
कृताप्लवान् सम्प्रति पापनाशात्, श्रीयोगिनाथौ पुपुवात इभ्यौ ॥३३॥

व्या०—शास्त्रेषु एतदिष्टं इति श्रूयते। इतीति किम्? गङ्गाह्लदिनी-गङ्गानाम्नी नदी जनौघान् पुनाति, सम्प्रति श्रीयोगिनाथौ इभ्यौ जनौघान् पुपुवाते-अपुनाताम्। 'पूगूश पवने' क्र्यादिरुभयपदी। कथम्भूतान् ? कृताऽऽप्लवान्-कृतस्नानान्। द्वितीयपक्षे कृतः-विहितश्चरणयोराप्लवः प्राप्तिरर्थात् स्पर्शो यैस्ते तथा तान्। अत्र शाकपार्थिवादिवत् मध्यपदलोपी समासः, सति च तस्मिन् चरणशब्दस्य लोपः। कस्मात् ? पापनाशात्, गङ्गास्नानात् पापनाशः आत्मशुद्धिश्च। तद्द्वयं योगिनाथयोश्चरणस्पर्शादेवेति भावः ॥३३॥

अथैतयोः पृथक्-पृथग्वर्णनम्

अलब्धलाभो मुनिसङ्गतिश्च, ध्यानं जिनादेः स्वहिताय शश्वत्।
रसायनानि प्रवरौषधानि, द्रव्याणि यत्सन्ति परोपकृत्यै ॥३४॥
योगीति नाम प्रवरं यथार्थ-मिन्नन्तमानन्दकरं नराणाम्।
एतान् षडर्थानिह योगशब्दे, विज्ञाय विज्ञाः कथयाम्बभूवुः ॥३५॥
युग्मम्

व्या०—अलब्धलाभः १, सङ्गतिः २, ध्यानं ३, रसायनं ४, औषधं ५, द्रव्यं ६, एते षट् योगशब्दस्यार्थाः। एषां योगात् योगी।

सन्मार्गणाऽऽलिभ्य इव द्विपो यो, दानं ददानोऽप्रियताऽऽदरेण।
रात्रिंदिवं पूरितमानवाशः, सोऽलंचकाराऽवनिमेव योगी ॥३६॥
शुभाऽमृताऽऽदित्यसुयोगयुक्तः, सहस्रशो घस्र इवेहितार्थान्।
चकार चाऽरं स तिरश्चकार, प्रायोऽर्थिनां दुर्विधतां क्षणेन ॥३७॥

व्या०—स योगिश्रेष्ठी क्षणेन–प्रायो बाहुल्येन अर्थिनां–याचकानां प्रयोजनवतां वा दुर्विधतां–निःस्वत्वं तिरश्चकार। चान्यत् ईहितार्थान्–वाञ्छितप्रयोजनानि सहस्रशः अरं–अत्यर्थं चकार। क इव ? घस्र इव–दिवस इव। कथम्भूतो दिवसः ? शुभामृतादित्यसुयोगयुक्तः–शुभयोगाऽमृतयोगरवियोगसहितः। कथम्भूतः योगी ? शुभं च–कल्याणं अमृतं च–मरणाभावः आदित्याश्च देवा अर्थात् तीर्थंकरास्तेषां सुयोगः--शोभनयुक्तिस्तया युक्तो यः स तथा। 'स्यादादित्यः सुरे रवौ' इति श्रीधरः ॥३६--३७॥

पापाऽरिविध्वंसनतत्परत्वात्, सर्वस्य लोकस्य वशंकरत्वात्।
दरिद्रदारिद्र्यविघातकत्वात्, त्र्यर्थो हि योगीव बभूव योगी ॥३८॥

व्या०—योगी–श्रेष्ठी हि–निश्चितं त्र्यर्थः–अर्थत्रयोपेतः योगीव बभूव–आसीत्। प्रथमार्थे—योगः सन्नाहः सोऽस्त्यस्य योगी सन्नाहवान्। द्वितीयार्थे—योगः--कार्मणं सोऽस्त्यस्य योगी--कार्मणवेत्ता इत्यर्थः। तृतीये अर्थे—योगः--विस्रब्धघाति अर्थात्ततुल्यं योगः–धनमित्यर्थः सोऽस्त्यस्य योगी–धनवान् इत्यर्थः। यथाक्रमं त्रयोपि पापारिविध्वंसनतत्परत्वादित्याद्या हेतवोऽपि योज्याः। योगशब्दस्य सन्नाह १, कार्मण २, विस्रब्धघातिनः ३ एते त्रयोऽर्थास्तत ईन् प्रत्यये योगीति ॥३८॥

इति सङ्घपतियोगिवर्णनम्।

अथ नाथाख्यसङ्घपतिवर्णनम्

आह्लादकः सर्वजनस्य भास्वान्, भ्राता तदीयः[1] स हि नाथ आसीत्।
समस्तलक्ष्मीनिलयो निलीनो, व्रतेषु यो द्वादशसूत्तमेषु ॥३९॥
सुधर्म्मकर्मादिकनेमिसीमां, न यस्य कोऽपि ह्युदलङ्घयन्ना।
नाथो धनी धर्मपरायणोऽभूद्, भूमौ स भूमीपतिलब्धमानः ॥४०॥
ज्यायान् हि यः सज्जनदुर्जनानां, द्व्यर्थो नु नाथः समभूत् शरीरी।
प्रत्यक्षतोऽभासत भासुरात्मा, भास्वत्प्रतापः स चिराय नाथः ॥४१॥

व्या०—स नाथः सङ्घपतिः चिराय अभासत–दिदीपे। सः कः ? यः ज्यायान् भूमौ सज्जनदुर्जनानां प्रत्यक्षतः शरीरी–शरीरवान्। नु इत्यव्ययं उपमायां। नाथः नाथ इवत्यर्थः। द्व्यर्थः–अर्थद्वयवान्, हि–निश्चितं समभूत्। सज्जनपक्षे, सज्जनानां पोषकत्वेन नाथः–स्वामी आसीत्। दुर्जनपक्षे, दुर्जनानां निराकरणात् नाथः–उपतापकः समभूत्। कथम्भूतो नाथः ? सज्जनपक्षे, भासुरात्मा–देदीप्यमान-स्वरूपः। दुर्जनपक्षे, भयङ्करस्वरूपः। 'भयङ्करे तु डमरमाभीलं भासुरं तथा' इति

१. योगिश्रेष्ठिनः।

हैमशेषः। पुनः कथम्भूतो नाथः? भास्वत्प्रतापः-सूर्यसदृक्तेजाः। 'नाथृ उपतापैश्वर्याशीःषु च' भ्वादिरात्मनेपदी। आशिषि नाथ इत्याशिष्ये वाऽऽत्मनेपद-नियमात् अर्थान्तरे परस्मैपदमेव। 'नाथति ईष्टे' इति नाथः प्रथमपक्षे, नाथति दुर्जनान् उपतपति इति नाथः द्वितीयपक्षे, एवं द्व्यर्थो नाथशब्दः शरीरी समभूत्॥४१॥

इति नाथाख्यसङ्घपतिवर्णनम्।

सङ्घाधिनाथस्य हि नाथनाम्नो, नारङ्गदेवी गृहिणी वरेण्या।
अगण्यपुण्यार्जनसावधाना, प्राणप्रिया प्रेमवती बभूव॥४२॥

स्वस्वामिनाऽमा स सुखं सुभोगान्, प्रभुञ्जमाना समये समायम्।
श्रीसूरजीनामकमङ्गजं सा, कुलप्रदीपं समसूतरूपम्॥४३॥

व्या०—समायं-कृपासहितं बुद्धिसहितं वा 'माया दम्भे कृपायां च स्यान्माया शाम्बरीधियोः' इति श्रीधरः। समसूतरूपमित्यत्र 'प्रशंसायां रूपप्' इति रूपप्॥४४॥

श्रीसूरजीः सर्वजगत्प्रकाशी, श्रीसूरजीवद्द्युरिवाऽसुरत् सः।
श्रीसूरऽजीवत् स्ववधूषु यस्य, श्रीसूरजीवः कृतवाञ्छितत्वात्॥४४॥

व्या०—स श्रीसूरजी सङ्घपतिरसुरत्-अदीप्यत। क इव? श्रीसूरजीवद्-द्युरिव श्रीसूरेण-श्रीसूर्येण जीवन् यो द्युः-दिवसः श्रीसूरजीवद्द्युः स इव श्रीसूर-जीवद्द्युरिव। कथम्भूतः? अत एव सर्वजगत्प्रकाशी। स कः? यस्य श्रीसूः-कन्दर्पः स्ववधूषु-स्वकीयपरिणीतस्त्रीषु अजीवत्-प्राणात्, न परस्त्रीषु। अनेन ब्रह्मचर्यपालनतत्परत्वमसूचि। पुनः कथम्भूतः? श्रीसूरजीवः शसयोरैक्यात् श्रिया उपलक्षिता ये शूराः-सुभटास्तेषां जीव इव जीवः श्रीसूरजीवः। कस्मात् कृतवाञ्छितत्वात्॥४४॥

प्रज्ञाऽथ जज्ञे सुषमादिदेवी, सधर्मिणी धर्मपरायणात्मा।
प्राणप्रिया सुप्रणया तदीया, लोके सदा प्रत्ययिता सुवृत्तात्॥४५॥

इति सूरजीस्त्रीवर्णनम्।

तस्यां[1] हि तस्या[2]-ऽभवदिन्द्रजी स, पुत्रः पवित्राऽवयवाभिरामः।
गुणान् यदीयान् गुणिवर्णनीयान्, स्तुवन्ति सर्वे कवयः प्रसन्नाः॥४६॥

इति श्रीसूरजीपुत्रस्य इन्द्रजीकस्य वर्णनम्।

---

१. सुषमादेव्यां। २. सूरजीकस्य।

श्रीयोगिनः श्रावकनायकस्य, श्रीपोरवाडान्वयदीपकस्य ।
भार्या जनार्या जसमादिदेवी, दिदेव देवीव कृतेप्सितार्था ॥४७॥

या रूपरम्भा रतिरूपजेत्री, स्वस्वामिसेवारतिरङ्गनेत्री ।
अनन्यसौजन्यसुरञ्जितान्या, सा[1] भासते सर्वजनाभिमान्या ॥४८॥

[2]नान्यादिकाकीत्यभिधा द्वितीया, साऽभूद् द्वितीया स्वगुणाऽद्वितीया ।
ररञ्ज या सर्वकुटुम्बलोकान्, श्रीयोगिनो भोगपुरन्दरस्य ॥४९॥

इति श्रीयोगिनो द्वे स्त्रियौ ।

तत्रादिमा[3]-ऽसूत तनूजयुग्मं, हृद्याऽनवद्याऽवयवैर्नृरत्नम् ।
श्रीसोमजीतिं प्रवरेण नाम्ना, शिवाभिधानं शिवदं द्वितीयम् ॥५०॥

स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा स्वकरैश्च नेत्रै-रानन्दवृन्दस्तिमितैस्तदिष्टम्[4] ।
ननन्दतुस्तौ पितरौ[5] पट्टू[6] द्वौ, हर्षो हि सर्वस्य सुपुत्रलाभे ॥५१॥

अथ प्रवृद्धं विबुधं बुधेभ्यो-ऽनवद्यविद्याऽध्ययनाद् व्यभात्तत्[7] ।
लब्ध्वा वरं यौवनमुत्सवौघैः, क्रमाच्च कन्ये खलु पर्यणेष्ट ॥५२॥

तत्राऽऽदिमः स्थामसुधामधाम, श्रीसोमजीः सोमसमाऽऽननश्रीः ।
सौभाग्यभाग्योदयतश्च पुण्यात्, कन्यामुपायंस्त पुनः प्रशस्ताम् ॥५३॥

अथ सोमजीवर्णनम्

यस्मात्सदा सर्वजनीनमुख्याद्, वनीपकौघो वननेन्धनानि ।
ववान चोर्वीशचयो यदंह्री, श्रीसोमजीः सोऽत्र चिरं जिजीव ॥५४॥

व्या०—'वनूयी याचने' तनादिरात्मनेपदी, ययाचे इत्यर्थः । 'वनषन सम्भक्तौ, भ्वादिः परस्मैपदी, सिषेवे इत्यर्थः ॥५५॥

सौम्याकृतिः सौम्यमतिर्महीया-नौदार्यचातुर्यसुशौर्यवर्यैः ।
योऽखण्डयत् सौम्यगुणेन चन्द्रं, श्रीसोमजीः सोऽत्र चिरं जिजीव ॥५५।

---

१. जसमादे । २. नानी काकी । ३. जसमादे । ४. तत्पुत्रयुग्मम् । ५. माता च पिता च पितरौ मातापित्रावेति पितृशब्दशेषः । ६. पट्टश्च पट्वी च पट्टू पुरुषः स्त्रियेति पुरुषशब्दस्य शेषः । ७. सोमजी शिवा नाम लक्षणं पुत्रयुग्मम् ।

कदापि चित्ते न हि यस्य रोषः, सन्तोषपोषः सह सर्ववर्णैः ।
विद्वेषदोषौ न न च द्विषन्तः, स सोमजीर्गौर इवाऽऽस साङ्गः ॥५६॥

व्या०—स सोमजीः सङ्घपतिः आस–दिदीपे । क इव ? साङ्गः–मूर्त्तिमान् गौर इव–गौरवर्ण इव । सः कः ? यस्य चित्ते कदापि सर्ववर्णैः सह ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रैः सार्द्धं न हि रोषः किन्तु सन्तोषपोषः । श्वेतवर्णस्यापि पीतादि-वर्णैः सह न रोषः किन्तु सन्तोष एव । यथा श्वेतवर्णे अन्ये पीताद्याः सर्वे वर्णा मिलन्ति तथा श्रीसोमजीकेऽपि चत्वारो वर्णा अप्रियन्ते इति भावः । शेषं सुगमम् ॥५६॥

प्रापालयन् मञ्जुलनिष्कलङ्कं, शीलं सलीलं सुकलः सदा यः ।
आबालभावं खलु वार्द्धकान्तं, चिरं चमत्कारकरः स रेजे ॥५७॥

धनी धनानां य उपार्जिताना-ममानदानं फलमाततान ।
शाखीव शाखादिभिरेधमान-श्चिरं स[1] सच्छाय इहैधतोर्व्याम् ॥५८॥

सदाऽप्रियन्ताऽभिमताः सुवर्णा, रागं स्वकं सम्पुपुषुर्विदोषम् ।
यस्मिन् परान्ना इव संश्रयन्तो, लोकेभ्य इभ्यो व्यरुचत् स सोमः ॥५९॥

पञ्चेन्द्रियत्वं परिहाय लोका-देकेन्द्रियत्वेन विधाय रूपम् ।
किं तिष्ठतीव त्रिदिवे सुरद्रु-र्यद्दानलीला विजितोऽजयत्सः[3] ॥६०॥

श्रीसोमजीनाममिषं मनुष्य-लोके विधाय स्वविमानतः स्वः ।
धर्मं चिकीर्षुस्स चतुष्प्रकार-मवातरत् किं सुकृताभिलाषी ॥६१॥

[इति] श्रीसोमजीवर्णनम् ।

अथ लघुभ्रातृ-सङ्घपतिशिवावर्णनम्

शिव[4] ! त्वमेवेव शिवः[5] शिवाय[6], प्रवर्त्तसे सर्वजनस्य शश्वत् ।
आर्याश्रितः सर्वविभूतिदीप्तो, भोग्युत्तमः सद्वृषभाभिरामः ॥६२॥

शिवस्य साक्षात् शिवमेव सर्वे, विबुद्ध्य बुद्ध्या विबुधा मनुष्याः ।
आमुष्मिकानेकशिवार्थिनस्त्वां, शिवाऽनिशं श्रय इवाऽऽश्रयन्ते ॥६३॥

---

१. २. ३. सः–सोमजीः । ४. हे शिवसंघपते ! ५. शिव इव–शम्भुरिव, इवोऽत्र भिन्नक्रमः । ६. शिवाय-क्षेमाय ।

व्या०—हे शिव ! हे शिवाख्य-सङ्घपते ! सर्वे विबुधाः आमुष्मिकानेक-शिवार्थिनो मनुष्याः त्वां अनिशं श्रेय इव—धर्ममिव आश्रयन्ते—सेवन्ते । किं कृत्वा? शिवस्य—मोक्षस्य साक्षात्-प्रत्यक्षं शिवमेव—क्षेममेव बुद्धया—अर्थात् स्वकीयया धिया विबुद्धच—ज्ञात्वा, यथा धर्मविधानान्मोक्षक्षेमावाप्तिस्तथा एतत् सेवाविधानात् क्षेमप्राप्तिरिति ज्ञात्वेति भावः । श्रेय इवेत्यत्र अनुप्रासालङ्कारात् भिन्नलिङ्गो-पमालङ्कारः ।।६३।।

ध्यायन्ति लोकाः शिव[1] इत्यरं ये, शिवाद्भुतानन्तसमीहिताय ।
तेषां पिपर्षीप्सितमाश्वऽतोऽङ्गं,त्यक्त्वा शिवो[2]-ऽभूत् शिवरूपधारी[3]।।६४।

शिवालयत्वाद्[4] विजयाश्रितत्वात्[5], विद्वद्गणामोदितमानसत्वात्[6] ।
स्पष्टाष्टमूर्त्ति[7]-त्वत एव चाऽयं, निराकरोतीव शिवः शिवं किम् ।।६५।।

शिवं शिवं नाम शिवं यदीयं, शिवप्रियाः[8] सर्वजनाः स्मरन्ति ।
[9]शिवप्रभावादधिकप्रभावः, शिवः प्रियोऽयं शिववत्स पुंसाम् ।।६६।।

[10]शर्वत्ववश्यं शिवान् स शश्व-च्छिवोऽशिवान्याऽऽशु विशां शिवोव[11]।
यच्छ्रेयसो विश्वसितीह विश्वं, विश्वं यशो यस्य हि शंसतीति ।।६७।।

दोदोष्टि दुष्टेषु कदापि नो यस्तोतोष्टि शिष्टेषु जनेषु नित्यम् ।
शेश्लेष्टयभीष्टान् विदुषोऽनगारान्, रोरोष्टि ना रुष्टजने शिवोऽव्यात्[12]

नेनेति योऽर्थान् बहुधार्थिलोकान्, जेजेति वादे प्रतिवादिवृन्दम् ।
शेश्रेति भूपांश्च सदा गुरूद्घान्, स्तुवन्तु तं सङ्घपतिं शिवं ज्ञाः ।।६९।।

---

१. हे शिव ! हे शिवाख्यसंघपते ! २. ईश्वरः । ३. कालरूपधारी । ४. शिवाया गौर्यालयो यस्मिन तस्य ज्ञातस्तत्त्वं, पक्षे शिवस्य आलयो यः स० । ५. विजयया—गौरी-सख्याऽन्वितः, पक्षे विजयेन अन्वितः । ६. विद्वांसो यं गणा नन्द्यादयस्तैरामोदितं मानसं यस्य०, पक्षे विदुषां गणैः—समूहैरा० । ७. स्पष्टा अष्टमूर्त्तयो यस्य०, स्पष्टा अष्टा व्याप्ता सुभगत्वेन मूर्त्तिः—कायो य०, अशौ व्याप्तौ च इत्यस्य क्तं रूपम् । ८. शिवः सङ्घपति प्रियो येषां । ९. शम्भुप्रभावात् । १०. हिनस्तु । ११. के इव ? शिवोव । व इवार्थे, गुग्गुलुरिव शिवयोग इव, वेद इव वा । यथा गुग्गुलुः शिवनामा योगः वेदो वाऽशिवान् हन्ति तथा० । १२. स शिवोऽव्यात् ।

पुत्रन्ति[1] लोकाः सकला यदग्रे, मित्त्रन्ति सर्वत्र हि शत्रवश्च ।
सुभ्रातरन्ति प्रवरा नरेन्द्राः, पश्यन्तु तं सङ्घपतिं शिवं ज्ञाः ॥७०॥
अभ्यस्तहृन्न्यस्तसमस्तविद्यां, यद्बुद्धिमित्याहुरभीक्ष्व दक्षाः ।
बृहस्पतिः किं भुवि भासुराङ्गः, श्रीसङ्घनाथः स शिवो विभाति ॥७१॥

इति श्रीशिवासङ्घपतिवर्णनम् ।

एवं हि योगी नरपुङ्गवोऽथ, स्वकीयदीव्यत्परिवारसारः ।
वृद्धो व्यधाद् धर्म्ममनोरथौघान्, नवान्नवान्मानववर्णनीयान् ॥७२॥

तद्यथा —

पूर्वं ह्यपूर्वाकृतिहेममुद्रा, देदीप्यमाना जिनधर्ममुद्राः ।
साधर्मिकेभ्यो व्यतरत्तरां यो, योगी स योगीव बभौ सुधर्मा ॥७३॥

'योगी स भोगी विबभौ सुधर्मा 'इति वा पाठः

अमानधान्याम्बरसारसारं, दानं सदादानमहर्निशं च ।
योगी ददावर्थिचयाय हर्षात्, स्वश्रेयसे श्रेयस उर्वरायाम् ॥७४॥

आद्याऽनवद्या जसमादिदेवी, पत्नी तदीया द्रविणव्ययेन ।
अकारयच्छ्रीसुमतेर्जिनस्य, प्रशस्यचैत्यं सहितं च चैत्यैः ॥७५॥
नानाप्रकाराकृतिभिर्वराभि - र्विचित्रवर्णैः सुविचित्रिताभिः ।
विराजमानं बहुपुत्रिकाभिः, साक्षाद्विमानंतविषाऽऽगतं किम् ॥७६॥

युगमम्

अहम्मदावादपुरान्तरस्थे, लसत्तलीयाभिध - पाटकेऽस्मिन् ।
बाभाति तच्चैत्यमुदाररूपं, पापापहं सम्प्रति सर्ववीक्ष्यम् ॥७७॥
प्रपूज्य चैत्यं च निरीक्ष्य लोका, इत्याहुरर्हन्सुमतिर्यथार्थः ।
एतल्लसच्चैत्यविधापिकाऽपि, श्रेयः - प्रियात्मा सुमतिर्बभूव ॥७८॥

व्या०—लोका इत्याहुः । किं कृत्वा ? चैत्यं अर्थात् सुमतिनाथबिम्बं प्रपूज्य

---

१. पुत्रन्ति पुत्रमिवाचरन्ति । एवं मित्रन्ति, सुभ्रातरन्ति । अत्र सर्वत्र कर्तुः क्विप्' इति क्विप् ।

च–अन्यन्निरीक्ष्य । इतीति किम् ? सुमतिरर्हन्, यथार्थः, परं एतल्लसच्चैत्य-विधापिकाऽपि–जसमादे-नाम्नी योगिसङ्घपतेः पत्नी सुमतिर्बभूव । कथम्भूता एतल्लसचैत्यविधापिका ? श्रेयः-प्रियात्मा इत्युक्तिलेशः ॥७८॥

श्रीयोगिसङ्घाधिपतेर्लघिष्ठा, नान्यादिकाकी[1] गृहिणी द्वितीया ।
फलं विशालं बहुलेखनस्य, ज्ञानस्य शुश्राव गुरोर्मुखाब्जात् ॥७९॥

उत्पन्नतल्लेखनभव्यभावा, ज्ञानाऽन्तरायक्षयहेतवे सा ।
एकादशाङ्ग्यादिकसर्वशास्त्र-कोशं मुदाऽकारयदात्मनाम्ना ॥८०॥

सा श्राविका तप्यतपांस्यतप्त, षष्ठादिकान्युज्जमनान्वितानि ।
अन्यैरशक्यानि जनैर्विधातुं, संसारसौख्यानि विषं विबुध्य ॥८१॥

श्रीसोमजीरित्यथ सङ्घनाथः, पप्रच्छ नत्वा जिनचन्द्रसूरिम् ।
सङ्घं महान्तं करवाणि पुण्यं, वर्षे चतुर्वेदषडेकसंख्ये (१६४४) ॥८२॥

महाऽवनीमण्डनमण्डलाना-मधीश्वरेभ्योऽप्यधिकप्रतापः ।
विवन्दिषुः श्रीविमलाचलेशं, श्रीमारुदेवं सुकृताभिलाषी ॥८३॥

युग्मम्

ततः समाख्यत् जिनचन्द्रसूरिः, कुरुष्व मा त्वं प्रतिबन्धमत्र ।
प्रसन्नचित्तोऽथ समस्तदेश-संघान स आकारयदादरेण ॥८४॥

आकारणं तस्य निशम्य सर्वे, पृथक्-पृथक्-देशमहाजनौघाः ।
प्रमुद्य हृद्युन्नतिकृन्मुहूर्त्ते, प्रतस्थिरे तीर्थकरार्चनार्थाः ॥८५॥

तेऽनुक्रमेणादरतोऽध्वनीन- ग्रामोत्तमद्रंगजिनाऽनगारान् ।
प्रवन्दमानास्त्वरितप्रयाणे - रहम्मदावादपुरं ह्यवापुः[2] ॥८६॥

श्रीसोमजीः सङ्घपतिस्तदानी - ममोदता[3]-ऽऽपृच्छत[4] चादरेण ।
प्रभूतदेशागतयात्रिकौघान्, महर्द्धिकान् वीक्ष्य विकस्वराक्षः ॥८७॥

---

१. नानी काकी । २. समीयुः । ३. अमोदत–'मुदि हर्षे' आत्मनेपदि । ४. आपृच्छत-आलिङ्ग्य कुशलादि अपृच्छत् इत्यर्थः । 'प्रच्छंत् ज्ञीप्सायाम्' आङ्पूर्वः प्रच्छिरालिंगनादिना आनन्दनार्थः । यत्कालिदासो मेघदूते—'आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलम्' इति ।

एकत्रभूतान् परदेशसङ्घान्, स्वदेशसङ्घांश्च कृताऽनघोद्घान् ।[1]
अमन्दता[2]ऽमन्दमना अमन्दः[3], श्रीसोमजीः सङ्घपतिः प्रमोदात् ॥८८॥

मौहूर्त्तिकोक्ते शुभलग्नयुक्ते, शस्ते मुहूर्त्ते सुदिने दिनेऽथ ।
श्रीसोमजीः सद्विजिगीषु भूप, इव प्रतस्थे महतोत्सवेन ॥८९॥

निरीक्ष्यमाणोऽनिमिषाक्षिभि-र्यो योषिज्जनानामिति चाननाब्जैः ।
संस्तूयमानस्सुतरां जय त्व - माधारभूतो जगतोऽसि यत्तत् ॥९०॥

द्रङ्गाऽध्वनि ध्वस्तसमस्तदुःखः, श्रेयोधिया स्वीयजयोदयाय ।
हस्तेन हस्तिस्थित इन्द्ररूपः, प्रोल्लालयल्लब्धधनो धनानि ॥९१॥

स्तुतिव्रतैः सुन्दरनव्यनव्य-भोगावलीभिः खलु कथ्यमानाः[4] ।
शृण्वन् कृतानेकजनप्रमोदाः, स्वोपार्जिताः सद्विरुदावलीश्च ॥९२॥

चतुर्भिः कलापकम् ।

अत्युज्ज्वलानध्वनि वल्गुशालीन्, सन्मुद्गदालीन् प्रचुराज्यनालीन् ।
नव्यान्नपक्वान्नसुतेमनालीन्, प्राभोजयत् सङ्घपतिर्नरालीः ॥९३॥

वातेरितात्यद्भुतपत्रगुच्छै-र्वृक्षा मनुष्या इव रोमगुच्छैः ।
अवीजयन्नध्वनि तं व्रजन्तं, निरीक्ष्य राजानमिवाऽवनीशम् ॥९४॥

केऽप्याऽऽतपत्रन्[5] पथि सान्द्रपत्राः, श्रान्तस्य तस्योपरि भूरुहौघाः ।
अमालिकन्[6] केऽपि च नव्यपुष्प-फलश्रियः पुष्पफलोपदाभिः ॥९५॥

आरण्यतिर्यञ्च इति स्ववाण्याऽब्रुवन्निवाऽद्यैव वयं हि धन्याः ।
पुण्यात्मनोऽस्याऽऽस्य कुशेशयं यत्, सम्प्रत्यपश्याम निकामकाम्यम् ॥९६॥

मुदोन्मुख श्चञ्चुमुखाश्च केचित्, तिर्यञ्च उच्चैरवचन्नि[7]-वेति ।
मनुष्यरूपं समवाप्य यात्रां, चिकीर्षुरेषोऽद्भुतसम्पदिन्द्रः ॥९७॥

---

१. कृतो अनघः पापरहितः उद्घः-अञ्जलिर्यैस्ते तान् । 'उद्घो हस्तपुटे' इत्यनेकार्थः । हस्तपुटः अञ्जलिः' इति तट्टीका । २. मदुङ् स्तुतिमोदमदस्वप्नगतिषु' इति धातुपारायणः ३. अमन्दः–नीरोगः अनलसः भाग्यवान् वा मन्दो मूढे शनौ रोगिण्यलसे भाग्यवर्जिते इत्यनेकार्थः । ४. वर्ण्यमानाः । ५. आतपत्रन् आतपत्राणीवाचरन् । ६. अमालिकन् मालिका इव आचरन् । कर्त्तुः क्विप् इति क्विपि ह्यस्तन्या प्रथमपुरुषबहुवचनाऽनोरूपम् । ७. अवचन् इति वचक् परिभाषणे इत्यस्य ह्यस्तन्यामऽनोरूपम् ।

तिर्यञ्च इत्यूचुरिवेह[1] केचिद्, [2]वज्रीदमत्येव स किं वराकः ।
अर्थे प्रभूते तृणमप्यरम्यं[3] , दातुं न यः कर्हिचिदप्यऽशक्नोत् ॥९८॥

विद्वानिवार्थान् विविधार्थिने यो, लोकाय लोकायतगीतकीर्त्तिः ।
सदा ददौ नाभिमहीपपुत्रं, स सोमजीरीति जिनं निनंसुः ॥९९॥
युग्मम्

प्रापत् क्रमात् विक्रमविक्रमार्कैः, शत्रुञ्जयाद्रिं विजिताऽजितारिः ।
स [4]सङ्घनाथस्तदुपत्यकायां, स्थूलस्थुलालोर्बहलाश्च तेने ॥१००॥

रक्तावदातादिविचित्रवर्ण - दूष्याद्यऽदूष्यग्रहणैः स्वदेहम् ।
अलञ्चकारेति बुधा अबुध्य-न्नुपत्यका स्त्रीव मुदा तदानीम् ॥१०१॥

अष्टापदं श्रीभरताभिधानश्चक्री यथा श्रीविमलाचलं सः ।
तथाऽऽरुरोह स्वकुलाद्युपेतः, श्रीमारुदेवं जिनपं प्रणन्तुम् ॥१०२॥

कश्मीरजन्मादिभिरर्चयित्वा, स्तुत्वा गुणौघान् गुणिवर्णनीयान् ।
अपोपवीत् स्वीयवपुर्विपापं, स शस्तहस्ताननभासुराभम् ॥१०३॥

जिनं हि सङ्घाधिपसम्मुखीनं, मुदा समायान्तमिवाऽभिवीक्ष्य ।
वीक्ष्य प्रपन्नाः स्वमुखेन सर्वे, विद्वज्जना इत्यवदंस्तदानीम्[5] ॥१०४॥

यदेष मा पूजयितुं समायात्, द्वाभ्यां समानां किल विंशतिभ्याम्[6] ।
पापात्मभिर्भूपतिभिर्निषिद्धं, विधाय मार्गं वहमानमद्य[7] ॥१०५॥
युग्मम्

अष्टप्रकारां प्रवरां च सप्त-दशप्रकारामुदितां जिनेन्द्रैः ।
विधाय पूजां स्वमनोरथान् यः, पपर्व[8] सर्वं स शशर्व[9] पापम् ॥१०६॥

सौभाग्यमालां खलु पुण्यमालां, प्रफुल्लफुल्लालिविशालिमालाम् ।
प्रक्षिप्य कण्ठे वपुषोच्चकण्ठे, विशः समुत्कण्ठयति स्म चान्यान् ॥१०७॥

---

१. इहेति एषः अद्भुतसम्पत् इन्द्रः अस्मिन्वाक्ये । २. इदमति–अयमिवाचरति । ३. मात्ररायं । ४. जिनो हि सङ्घाधिपसु । ५. तदानीं–तस्मिन्काले पूजाविधानसमये इत्यर्थः । ६. किलेति सत्ये समानां वर्षाणां द्वाभ्यां विंशतिभ्यां चत्वारिंशद्वर्षेभ्य इत्यर्थः । ७. अद्य अस्मिन्काले । ८. 'पर्व' पूरणे भ्वादिः । ९. शर्व हिंसायाम् तालव्यादिर्भ्वादिः ।

जेगीयमानेषु भृशं वशाभि - र्गेयेषु नेयेसु विशां श्रवस्सु ।
सङ्घाधिपत्यं स मुदा प्रपेदे, युगप्रधानाज्जिनचन्द्रसूरेः ।।१०८।।

तदा च वाद्यध्वनिराऽऽविरासीत्, जयारवं चोचुरनेकलोकाः ।
ददावमानं स धनादिदानं, करोति किं किं न मनः प्रसन्नम् ।।१०९।।

'प्रसन्नहृन्ना कुरुते न किं किम्' इति वा पाठः ।

ततः प्रवन्द्याऽऽदिजिनादिदेवं, लब्धर्द्धिलाभः स समाजगाम ।
अधित्यकायाः सदुपत्यकायां, शत्रुञ्जयाद्रेः शिखरीश्वरस्य ।।११०।।

सितोपलाघारजलेबिकाभिः, सर्पिष्कशाकाद्भुततेमनाभिः ।
सद्व्यञ्जनैः फालिभिरुज्ज्वलाभिः,सङ्घाधिपः सङ्घमभोजयत्सः ।।१११।।

द्रव्याणि सद्रव्यविशामधीशो, नॄन्नॄन्प्रति प्रत्यवितप्रतीतः ।
ददौ[1] स दारिद्र्यहरिद्रुमुद्रां[2], दरिद्रलोकस्य च दानवास्या[3] ।।११२।।

कार्प्पास-कौशेयक-रांकवाणि, क्षौमान्वितानि प्रवराम्बराणि ।
वाचंयमेभ्यः स च दर्शनिभ्यः, प्रादादुदाराऽऽदरतोऽभिवन्द्य ।।११३।।

पापिष्ठकाष्ठयन्वितकोलिकाद्या, अध्वानमुग्रा रुरुधुर्द्विषन्तः ।
संयुद्ध्य योद्धेव धनायुधैस्तान्, जित्वा च सत्वाज्जितकाश्यऽभूत् सः
।।११४।।

ततः प्रतस्थे जयकारशब्दं, शृण्वन्नुभाकर्णि स सज्जनोक्तम् ।
पुण्यप्रभावाच्च गुरुप्रसादात्, सर्वं शुभं तस्य सदा बभूव ।।११५।।

सुखप्रयाणैः ससुखं सुखी सः, क्रमात् समायात् समया[4] श्रियाग्रः[5] ।
अहम्मदावादपुरं प्रशस्त - श्रिया समुल्लासि विलासिलोकम् ।।११६।।

महोत्सवेनाभ्यविशत् प्रहृष्टः, पुरान्तराऽऽत्मीयगृहान्तरा च ।
महाजनान्मञ्जुलकुण्डलीभिः, प्रभोज्य हस्ते च ददौ ततः स्वम् ।।११७।।

शत्रुञ्जयाधीशितुरादिनाथ - तीर्थङ्करस्य स्वकरेण पूजाम् ।
कृत्वा स्ववाण्या गुणवर्णनां च, श्रीसोमजीर्योगिसुतस्तुतोष ।।११८।।

---

१. दत्तवान्, पक्षे चिच्छेद । २. दारिद्र्यहरिद्रुमुद्रां–दारिद्र्यवृक्षमर्यादाम् । ३. कुहाडा । ४. समस्तया शोभनया वा । ५. श्रियाढ्यः (इति वा पाठः)

कुर्वंल्लसच्छ्रीपितृसतिपतृव्य-क्रमाब्जसेवां विनयी नयज्ञः[१] ।
शिवादिभिर्भ्रातृभिरात्मजैः स्वैः, पितृव्यपुत्रैश्च विराजमानः ॥११९॥
युग्मम्

इति सङ्घपतिश्रीयोगिनाथादिविराजमान-श्रीसोमजी-
सङ्घपति-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थयात्रावर्णनम् ।

४ ८ ६ १
वर्षे चतुर्दिग्गजरागमेरुसंख्ये १६४८ हलाराभिधमण्डलस्य ।
अत्यन्तदुःखाकुललोकबन्दिं, व्यमोचयद् द्रव्यचयं स दत्वा ॥१२०॥
ते बन्दिलोका अपरे च लोकाः, प्रोचुस्तदानोमिति सत्यवाचम् ।
त्वं विश्वपालः सकलाचलाया, आधारभूतोऽसि मनोजवो नः ॥१२१॥

इति बन्दिमोचनम् ।

रूप्यार्द्धकस्यैधित शाश्वतर्द्धिः, सोऽभिव्यधांल्लम्भनिकां विलोभः ।
गच्छे बृहत्खारतरे समस्ते, धर्मेऽतिगृध्नुर्न धने धनीन्द्रः ॥१२२॥
सार्धमिकेभ्यो हि निजानिजेभ्यः, करांगुलीनां परिधापनाय ।
हेम्नो नवीनान् वलयान् बलीया-नेनो विनाशाय ददौ च स द्धिः ॥१२३॥

इति श्रीसङ्घपति श्रीसोमजीकृत-सर्वखरतरगच्छसाधर्मी-
लम्भनिका-श्रावकनिकरकराङ्गुलीवलयारोपणयोर्वर्णनम् ।

श्रीश्यामलाख्ये किल पाटके यः, स्पष्टस्फटश्यामलपार्श्वचैत्यम् ।
अत्यद्भुतं कारयति स्म सम्यङ्, द्रव्यव्ययात् सोऽभिननन्द लक्ष्म्याः
॥१२४॥
श्रीसूत्रधारस्य धनाभिधस्य, प्रतोलिकायां बहुलालयायाम्[२] ।
चतुर्मुखं शान्तिजिनेशचैत्यं, श्रीसोमजीः कार्यितुं व्यवाञ्छद् ॥१२५॥
रूप्योपमानाश्मभिरादिनाथ - तीर्थङ्करोच्चप्रतिमा विराजि ।
वसुन्धरान्तःशरणं शरण्यस्ततः पुरा कारयति स्म रम्यम् ॥१२६॥
विचित्रितं चित्रकृता नृचित्रैस्तद्वीक्ष्य लोका इति संदिहन्ति ।
पातालवास्यर्चिचिषुर्जनः किं, विवन्दिषुश्चात्र सदाऽऽस्त एषः ॥१२७॥

१. विनीत इति पाठो वाः । २. स्वगृहोपकण्ठे इति वा पाठः ।

सेवावियोगोऽस्य जिनस्य न स्याद्, बुद्धयेति देवा भुवनाधिपाद्याः ।
यत्र स्थिता भान्ति हि चित्रदम्भाद्, भूस्थं निरीक्ष्येति वदन्ति [1]तज्ज्ञाः
॥१२८॥

श्रीसोमजीकारित-श्रीमदादीश्वरजिनभूमध्यस्थितचैत्यवर्णनम् ।

तस्योपरि ब्रह्मशरीरतीदं, तद्भाति यत् शान्तिजिनेशचैत्यम् ।
चतुर्मुखं हेमघटोत्तमाङ्गं, चतुःसुवर्णाश्रितकुम्भवेदम् ॥१२९॥

व्या०—तदिदं शान्तिजिनेशचैत्यं भाति । क्व? तस्य भूमिगृहश्रीमदादिदेव-चैत्यस्य उपरि । तदिति किम् ? यत्शान्तिजिनेशचैत्यं ब्रह्मशरीरति—ब्रह्मशरीर-मिवाचरति । कथम्भूतं शान्तिजिनेशचैत्यम् ? चतुर्मुखं—चतुर्द्वारम् । कीदृशं ब्रह्म-शरीरम् ? चतुर्मुखं प्रसिद्धम् । कथम्भूतं शान्तिजिनेशचैत्यम् ? हेमघटोत्तमाङ्गं स्वर्णकलशाभिरामाङ्गं, यद्वा हेमघट एव—पञ्चमस्वर्णकलश एव उत्तमाङ्गमिव उत्तमाङ्गं यस्य तत् हेमघटोत्तमाङ्गम् । कथम्भूतं ब्रह्मशरीरम्? हेम्नो घटा—रचना यस्मिस्तत् हेमघटं, एवंविधं उत्तमाङ्ग—शिरो यस्मिस्तत् हेमघटोत्तमाङ्गं । हेम-घटात्—ब्रह्माण्डादुत्तममङ्गं हिरण्यवर्णब्रह्माण्डप्रभवत्वात् । यत्पुराणम्—

'हिरण्यवर्णमभवद्, ब्रह्माण्डमुदकेशयम् ।
तत्र जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भूर्लोकविश्रुतः ॥१॥

इति । पुनः कथम्भूतं शान्तिजिनेशचैत्यम् ? चतुःसुवर्णाश्रितकुम्भवेदं चत्वारः सुवर्णाश्रिताः—सुवर्णमयत्वात् कुम्भाः—कलशास्तेषां वेदः—विद्यमानता निवासो वा यस्मिस्तत्तथा । 'विदिच् सत्तायाम्' दिवादिरात्मनेपदी, 'विदिण् चेतनाख्याननिवासेषु' चुरादिरात्मनेपदी, अनयोर्घञि, वेदः । यद्वा, चतुःसुवर्णा-श्रितकुम्भा विद्यन्ते—सन्ति वेदयन्ते निवसन्ति वा यस्मिस्तत्तथा, अच् । कथम्भूतं ब्रह्मशरीरम् ? चत्वारः सुवर्णाश्रिताः—शोभनाक्षरान्विताः कुम्भा इव कुम्भाः समीहितदातृत्वेन पूर्णकलशोपमाना वेदा यस्मात् यस्मिन् वा तत् चतुःसुवर्णाश्रित-कुम्भवेदम् ॥१२९।

चतुष्कषायाऽरिविनाशनाय, [2]कुम्भशार्ङ्गादिचतुष्क[2]-शस्त्राम् ।
दधच्चतुर्द्वारचतुर्भुजश्रीं, श्रीशान्तिचैत्यं हरिरूपतीदम् ॥१३०॥

---

१. चैत्यम् । २. स्मु ।

यद्भित्तयो यद्वलभी च दीव्यद्, विचित्रचित्रैः समलंकृता हि ।
सुवर्णमेलालिखितैर्मनीषि-लेखेन तद्भाति जिनेशचैत्यम् ॥१३१॥

समीक्ष्य नानाविध[1]-चित्रदम्भाद्, विपश्चितः केचिदिति ब्रुवन्ति ।
यथोचितं स्थानमवाप्य देवाः, सेवन्त एते किममुं जिनेशम् ॥१३२॥

चतुर्मुखाग्रे स्थितपञ्चकुम्भ - शृङ्गोत्तमं भूत्तमभासुराभम् ।
यत्पञ्चमेवंगति दीव्यदर्हत्, तत्सोमजीकारितचैत्यमीष्टे ॥१३३॥

वर्षे त्रिपञ्चर्तुगभस्तिसंख्ये १६५३, चैत्याऽष्टकाऽर्हत्प्रतिमाप्रतिष्ठाम् ।
अकारयच्छ्रीजिनचन्द्रसूरेर्युगप्रधानस्य गुरोः करात्सः ॥१३४॥

तस्मिन्क्षणे सर्वमहाजनौघान्, सोऽभोजयद् द्रव्यमदाच्च तेभ्यः ।
साध्वादिसद्दर्शनिनां सुभक्त्या, व्यवहारयच्चारुतराम्बराणि ॥१३५॥

लोका अनेके किल मागधाद्या, जयारवं प्रोचुरितीह केचित् ।
केचिच्च पूर्वाऽऽधुनिकाग्रपुंसां, कीर्त्तिस्त्रियो नायक एष आषीत् ॥१३६॥

इति चतुर्मुखश्रीशान्तिनाथचैत्यवर्णनम् ।

अकारयत्तीर्थकृतो विहारानेकैकतोऽष्टौ नृमनोभिरामान् ।
एवं विधान् धन्यतमात्ममुख्यः, श्रीसोमजीः सङ्घपतिः प्रतीतः ॥१३७॥

श्रीसोमजीः शम्भुरिवाष्टमूर्त्तिश्चैत्याष्टकव्याजत एष साक्षात् ।
भातीति लोको मनुते स्वचित्ते, समीहितानि त्वरितं प्रयच्छन् ॥१३८॥

सिद्धान्तटीकाप्रभृतीनि सर्वशास्त्राण्यनेकानि विलेख्य लेखात् ।
अकारयत् पुस्तककान्तकोशं, गुर्वाननात् ज्ञानफलं निशम्य ॥१३९॥

सार्वत्रिकीं खारतरीं सदेवं, गच्छोन्नतिं सोऽकृत[2] सौकृतात्मा[3] ।
तपांस्यऽतप्ताऽपर दुस्तपानि, प्राभक्त भक्त्याऽऽत्मगणाऽऽस्तिकांश्च ॥१४०॥

---

१. चैत्यं बहु । २. अकृत अकरोत् । ३. सुकृतस्य पुण्यस्यायं सौकृतः, सौकृत आत्मा यस्येति ।

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला
के

नवीनतम प्रकाशन (सन् १९६७-६८)

	नाम	सम्पादक	मूल्य
१.	बालशिक्षा—व्याकरण	श्री मुनि जिनविजय	७–७५
२.	नृत्यरत्नकोश भाग २	श्री आर. सी. परीक तथा डॉ० प्रियबाला शाह	६–७५
३.	चान्द्र-व्याकरण	श्री पं० बेचरदास जे. दोसी	७–००
४.	गोरा-बादल-चरित्र	श्री मुनि जिनविजय	४–००
५.	हम्मीर-महाकाव्य	श्री मुनि जिनविजय	१५–००
६.	मुंहता नैणसी री ख्यात भाग ४	श्री बदरीप्रसाद साकरिया	८–७५
७.	मधुमालती सचित्र कथा	डॉ० फतहसिंह	१८–७५
८.	आगमरहस्य पूर्वार्द्ध	श्री गंगाधर द्विवेदी	१५–००
९.	शकुनप्रदीप	डॉ० फतहसिंह	१–००
१०.	पाठचरत्नकोश	श्री गोपालनारायण बहुरा	३–५०
११.	ए केटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स पार्ट III-B	श्री मुनि जिनविजय	४८–७५
१२.	नन्दोपाख्यान	डॉ० फतहसिंह	१–००
१३.	राठौड़ां री वंशावली एवं राठौड़ वंश री विगत	डॉ० फतहसिंह	२–१५
१४.	चण्डीशतक टीकाद्वयसहित	श्री गोपालनारायण बहुरा	५–२५
१५.	कविकौस्तुभ	डॉ० फतहसिंह	२–००
१६.	मीरां बृहत्पदावली प्रथम भाग	पुरोहित श्री हरिनारायण	७–५०
१७.	स्थूलिभद्रकाकादि	डॉ० आत्माराम जाजोदिया	१–७५
१८.	राजस्थानी वीरगीत-संग्रह प्रथम भाग	श्री सौभाग्यसिंह शेखावत	६–५०
१९.	गजगुणरूपकबन्ध	श्री सीताराम लालस	९–००

सन् १९६८-६९ के प्रकाशन

२०.	वैताल-पचीसी	डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया	३–५०
२१.	मारवाड़ रा परगना री विगत, प्रथमभाग	डॉ. नारायणसिंह भाटी	१५–५०
२२.	राजस्थानी वीरगीत-संग्रह द्वितीय भाग	श्री सौभाग्यसिंह शेखावत	६–२५
२३.	देवीचरित प्रथम भाग	श्री हुक्मचन्द चतुर्वेदी	१३–२५
२४.	राजनीति रा कवित्त	डॉ० नारायणदत्त श्रीमाली	५–००
२५.	सिंधुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक	डॉ० फतहसिंह	५–०० १–२५
२६.	शङ्करीसङ्गीतम्	श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी	१–२५
२७.	संघपति-रूपजी- वंश-प्रशस्ति	म० विनयसागर	
२८.	सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्य	म० विनयसागर	११–५०

प्राप्तिस्थान

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राजस्थान)